

मंगतराम शास्त्री की कविता (किसान आन्दोलन के समय लिखी गई)

राजा जी जो जीत गया तो फेर भी तू हरैगा रै।
च्यारों ओड़तै घेरे हुयां नै के जी तै मारैगा रै..

हम तो पहले ई मेरे पड़े सां ले बैद्वां गे भूप तनै
नहीं मिलैगी जगांह ल्हकोणे नै बैद्वदा रूप तनै
दुनिया म्हं बदनामी होगी लोग कहै बेकूप तनै
अन्नदाता मर ग्या तो धरती ना देवै कदे टूक तनै
भूख मिटै ना रोटी बिन तूं किस तरियां सारैगा रै.

ज्यान हथेली पै धरकै जो त्यारी करकै आ रये सैं
नहीं मरण तै डरते वैं संग राशन पाणी ल्या रये सैं
च्याडै काल्ल सरदी म्हं भीआप बणाकै खा रये सैं
ईब तलक तो गीत समई और शार्ति के गा रये सैं
जिस दिन छाती पै चढ़गे तूं किस तरियां तारैगा रै.

तेरा के बिंगड़े तूं छप्पन इंच का सीना ले रया सैं
छप्पन भोग करण आले तनै नहीं भूख का बेरा सैं
तकलीफां नै ना जाणे तेरे धोरे ठाठ भतेरा सैं
आज मगर किसान तेरी इयोड़ी पै दस्तक देरया सैं
मतना मान्ने भेड़ इनै यू शेर रूप धारैगा रै.

जिसपै खोण नै कुछ ना होता पाण नै दुनिया सारी
उसपै घणा दबाव बणाणा ठीक नहीं अत्याचारी
सब मजदूर किसान महिला यूवा और लिखारी
रोज की नफरी बढण लाग री बात मान अहंकारी
नहीं तो खड़तल शब्दां के बणा तीर तनै टारैगा रै.

शहर की भाषा

माँ-बाबा जंगल से जब शहर आए
उनके पास अपनी आदिवासी भाषा थी
जीभ से ज्यादा जो आँख की कोर में रहती थी
पानी की तरह
कोई भी पढ़ सकता था उनका चेहरा
पर इस शहर ने
शहर की भाषा न जानने पर
जंगली कहा
उनका मजाक उड़ाया, उन्हें नीचा दिखाया

एक दिन हम बड़े हुए
माँ-बाबा ने गाँव की भाषा छिपा ली
और शहर में जिन्दा रहने के लिए
हमें सिर्फ शहर की भाषा दी
पर इस शहर ने फिर
अपनी मातृभाषा नहीं जानने पर
हमारा मजाक उड़ाया, हमे नीचा दिखाया

एक दिन हमने जाना
दरअसल बात यह नहीं है कि
हम क्या जानते हैं और क्या नहीं जानते हैं
कि इस शहर को एक ही भाषा आती है
अपने से भिन्न हर मनुष्य को
हमेशा नीचा दिखाने की भाषा

आज हम दुनिया की तमाम भाषाओं में
कहना चाहते हैं अपनी बात
पर संदेह है कि यह शहर समझता है
अपने से भिन्न किसी भी भाषा की बात।
-जसिंता केरकेड्डा

शिक्षा और परीक्षा/बिपिन कुमार शर्मा

जहां तक मुझे ध्यान आता है, पिछले बीस वर्षों से शिक्षा में परीक्षा पर कुछ ज्यादा ही ध्यान दिया जाने लगा है। पहले केवल साल के अंत में एक वार्षिक परीक्षा होती थी, बाद में अर्धवार्षिक भी होने लगी थी। छात्रों के लिए तब वही आफत-सी हो गई थी कि अब साल में दो बार परीक्षा देनी होगी। बाद में बीए-एमए को भी सेमेस्टर में बांटकर परीक्षाओं की संख्या बढ़ा दी गई।

लेकिन आज की स्कूली शिक्षा को देखकर ऐसा लगता है कि शिक्षा और परीक्षा एक-दूसरे के पर्याय हो गए हैं। विद्यार्थी और शिक्षक सालों भर परीक्षा में ही उलझे दिखाई देते हैं। शिक्षक परीक्षा ले-लेकर परेशान और विद्यार्थी दे-देकर। क्रार्टली, हाफ़ियली और इयर्ली के अलावा यूनिट टेस्ट अलग से। छाटे बच्चों पर तो ओरल की तलवार भी लटकी रहती है। किसी को एक बार ठहर कर यह सोचने तक की फुर्सत नहीं कि क्या हासिल हो रहा है इन परीक्षाओं से? क्या इस बारे में पिछले बीस सालों का कोई परिणाम जानने का प्रयास सरकारी या स्वयंसेवी संस्थाओं की ओर से कभी किया गया कि इन परीक्षाओं से विद्यार्थियों की क्षमता में कितनी ज्यादा वृद्धि हो गई? स्वयंसेवी संस्थाओं की बात इसलिए क्योंकि पिछले दस-पंद्रह सालों से शिक्षा की 'गुणवत्ता' बढ़ाने में उनकी भी भूमिका काफी बढ़ गई है और इसके नाम पर वे भी लाखों-करोड़ों के बारे-न्यारे करते आ रहे हैं। हालांकि कुछ शोध तो शिक्षा की गुणवत्ता में स्वयंसेवी संस्थाओं की भूमिका पर भी करवाने की जरूरत है।

बहरहाल, अगर मुझसे पूछा जाए तो मैं स्कूलों की सारी परीक्षाएं तत्काल बंद करने की हिमायत करूँगा। क्योंकि इसके कारण सीखने-सिखाने की अब कोई संभावना ही नहीं रह गई है। टीचर या तो प्रश्न बनाने में व्यस्त हैं, या विद्यार्थियों को यह बताने और रटाने में कि इस बार परीक्षा में कौन-कौन-से प्रश्न आने वाले हैं या फिर उत्तर पुस्तिकाएं चेक करने, नम्बर बिठाने और रिजल्ट बनाने में। कब शिक्षक



पढ़ाएं और कब विद्यार्थी पढ़े? चाहे अभिभावक हों, चाहे शिक्षक प्रबंधन या विद्यार्थी- सबका ध्यान केवल नम्बरों तक सिमट कर रह गया है। भला क्या हासिल होगा ऐसी शिक्षा से? उन नम्बरों का क्या करेंगे जो आपकी योग्यता से ज्यादा आपकी अयोग्यता को प्रमाणित करते हैं?

इस बारे में जब भी संभव हुआ, मैंने अनेक अभिभावकों से बात की है। ज्यादातर को तो इससे मतलब ही नहीं होता कि शिक्षा में चल क्या रहा है! उन्हें केवल इससे मतलब होता है कि उनके बच्चे स्कूल जाएं और शिक्षक ज्यादा से ज्यादा वक्त तक उन्हें स्कूल में बिठाए रखें (भले कुछ पढ़ाएं) ताकि 'पैसा वसूल हो'! कुछ को मतलब भी होता है तो यही लगता है कि इस पढ़ति से अधिक नम्बर आते हैं इसलिए यही ठीक है। शिक्षकों को भी मालूम है कि आज के दौर में शिक्षा और परीक्षा का एकमात्र उद्देश्य ज्यादा से ज्यादा नम्बर लाना है, इसलिए वे भी पढ़ाने से बेहतर समझते हैं उन प्रश्नों को बता देना और लिखा अथवा रटवा देना जिन्हें वे सन्त्रिक्ष परीक्षा में पूछने वाले हैं।

क्योंकि स्कूल प्रबंधन उनसे यह जानना ही नहीं चाहता कि उनके विद्यार्थी कितना जानते हैं? उसे भी केवल नम्बरों से मतलब होता है।

क्या ऐसी शिक्षा का कोई अर्थ रह जाता है? लेकिन रिजल्ट के सीजन में फेसबुक के साथियों का अपने बच्चों के नम्बरों के प्रति जैसा उत्साह देखने को मिलता है उससे तो यही लगता है कि ज्यादातर लोग शिक्षा और स्कूलों से वास्तव में केवल नम्बर ही चाहते हैं। इसलिए उन्हें इस बहस में नहीं पढ़ाना कि उनके बच्चों को कौन-सी किताब पढ़ाई जा रही है, उन्हें पढ़ा कौन रहा है और उसे पढ़कर वे क्या हासिल करेंगे?

क्या हम एक बार भी जरा ठहरकर यह सोचना चाहेंगे कि आज के विद्यार्थी किन-किन की अपेक्षाओं, महत्वाकांक्षाओं, मूर्खताओं, विकृतियों, भ्रष्टाचारों और अपराधों का बोझ उठाए स्कूल से घर और घर से स्कूल तक का रास्ता नाप रहे हैं? अखिर उनका कसूर क्या है?

कहानियों में जीना-मरना

कहानी के पीछे पगलाए घूमना हर किसी के मिजाज में नहीं होता। न जाने कितनी बार मैंने अपने भाइयों के पैर दबाए, उनसे किसी फिल्म की कहानी सुनने के लिए। गर्भी की दुपहरियों में घंटों लुरखुर काका की गाय-धैर्सों पर नजर रखी ताकि लोरिक-संवरू और दयाराम ग्वाल के पंवरे सुनाते हुए उनकी कल्पना और लयकारी में कोई खलल न पड़े। अकबर-बीरबल, शीत-बसंत और राजा भरथरी के किस्से चिथरू चाचा से सुनने के लिए जाड़ों की शाम सूरज झुकने के भी घंटे भर पहले मैं उनके दरवाजे पर हाजिरी लगा देता था।

उनके कई सारे काम तब अधबीच में होते थे और वहां मेरी असमय उपस्थिति से परेशान उनके घर वाले हिकारत से मुझे देखकर मुंह बिचका देते थे। फिर उपन्यास पढ़ने की उम्र हुई तो इसके लिए बड़ों की निर्लज्ज चापलूसी, यहां तक कि चोरी-चकारी जैसा कर्म भी मुझे कभी अटपटा नहीं लगा। कहानियों के पीछे इस दीवानगी की एक बड़ी बजह अपने परिवेश से

कहानियों के लिए ही मरते हैं।' क्या सचमुच? तनख्वाह में हर पांचवें साल एक नया जीरो जोड़ते हुए आगे बढ़ने वाले एक कामयाब परिचित से न जाने किस रौ में एक दिन अचानक मैंने पूछ लिया, 'तुम्हारे बच्चे कभी तुमसे तुम्हारी कहानी सुनना चाहेंगे तो उन्हें क्या सुनाओगे? यही कि क्या-क्या किया तो सैलरी कितनी बढ़ गई?'

क्योंकि इस सवाल में अजनबियत भी थी। कहानियां उसके पास थीं। बस, जिंदगी की चूहा-दौड़ में शामिल हो जाने के बाद उन्हें पलट कर याद करने का मौका उसको एक जमाने से नहीं मिला था। उस चढ़ती रात में हम देर तक बतियाते रहे। पढ़ाई पूरी करने के बाद तीन साल लंबी उसकी भटकन के किस्सों ने हमारे बीच के अंधेरे कोने को चमकते जुगाजुओं से भरी हुई झाड़ी जैसा बना दिया। लगा कि एक लंबी कहानी के नगण्य पात्र ही हैं हम। बस सुनाए जाने की देर है।

-साइबर नजर